Gyanvividha, Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025 : PP-437-443

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-4 (Oct.-Dec.) 2025
Page No.- 437-443
©2025 Gyanvividha
https://journal.gyanvividha.com

Author's :

दुर्गा नन्द ठाकुर
शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा.

Corresponding Author :

दुर्गा नन्द ठाकुर
शोधार्थी, विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा.

समकालीन हिन्दी कविता में हाशियाई अस्मिताएं : कवि दिनेश कुशवाह के विशेष संदर्भ में

शोध–सार : साठोत्तरकालीन कविता को 'समकालीन कविता' के रूप में अभिहित किया जाता है। यह ठीक है कि समकालीन कविता की कोई एक जीवन दृष्टि न होकर कई जीवन–दृष्टियां हैं लेकिन इनके बीच ऐतिहासिक–सामाजिक एवं साहित्यिक कारणों से जनवादी जीवन–दृष्टि प्रमुख स्थान अर्जित कर लेती है। जनवादी जीवन–विवेक ने समकालीन क विता को हाशिए के समाज से अभिन्न रूप से जोड़ दिया, जिसके परिणामस्वरूप समकालीन कविता में हाशियाकृत समाज की पीड़ा, संघर्ष, आकांक्षा और मुक्ति के स्वप्न बहुलता के साथ प्रतिबिंबित होते हैं। यह आलेख समकालीन कविता के इसी मर्मस्थल की पड़ताल उक्त काव्य–धारा के प्रमुख हस्ताक्षर कवि दिनेश कुशवाह की कविताओं के आधार पर करने का प्रयास है।

बीज शब्द : हाशियाकृत समाज, दलित, बहुजन, वर्णव्यवस्था, जाति, वर्गीय असमानता, समकालीन कविता, समकालीनता, वर्गीय एकता, दमनकारी शक्तियां, जनमुक्ति, दलित मुक्ति।

दिनेश कुशवाह समकालीन हिन्दी कविता के उन कवियों में शामिल हैं, जिनके माध्यम से आज भी नागार्जुन, मुक्तिबोध जैसे प्रगतिशील–जनवादी कवियों की परम्परा प्रवाहमान है। यद्यपि दिनेश कुशवाह का रचनाकाल इक्कीसवीं सदी का पहला–दूसरा दशक है फिर भी चेतना के स्तर पर उनकी कविताएं उक्त काव्य–परम्परा से जुड़ती हैं। ऐसा कहने के पीछे सबसे बड़ा आधार उनकी काव्य–चेतना व कविता की अंतर्वस्तु के साथ–साथ शिल्प है। इनके दो काव्य संग्रह अब तक प्रकाशित हैं: 'इसी काया में मोक्ष' (2007) तथा 'इतिहास में अभागे' (2017), जो 21वीं सदी के भारतीय समाज का नितांत निजी पाठ है। इन संग्रहों की कविताएं भारतीय सामाजिक आख्यानों में मौजूद वर्चस्ववादी शोषणकारी सामाजिक मूल्यों को ध्वस्त करती हुई

लोकतांत्रिक प्रगतिशील मूल्यों का वहन करती हैं।

दिनेश कुशवाह ने अपनी कविताओं में जहां गहन राजनीतिक–सामाजिक विश्लेषण के जरिए साहित्य, समाज और संस्कृति को कई स्तरों पर व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। वहीं उनकी अटूट प्रतिबद्धता समाज के हाशिए के वर्ग के प्रति दिखलाई पड़ती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्होंने समकालीन कविता में सीमांत अस्मिताओं के प्रश्नों को बेहद महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है। इसके साक्ष्य के तौर पर उनके दोनों संग्रह यथा 'इसी काया में मोक्ष' व 'इतिहास में अभागे' से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि समकालीन हिन्दी कविता अपनी अंतर्वस्तु में वर्ग आधारित दृष्टि के लिए जानी–पहचानी जाती है। समकालीन कवियों ने भारतीय समाज की वर्ग आधारित व्याख्या को स्वीकार किया तथा उसी अनुरूप समाज के निम्नवर्गों के प्रति अपनी पक्षधरता प्रकट की। वर्ग आधारित दृष्टि से जहां शोषणकारी व्यवस्था की जटिलताएं व बहुस्तरीयताएं स्पष्ट हुईं वहीं कुछ सामाजिक प्रश्न अलक्षित भी रहे। हालांकि इस मत के अपवादस्वरूप जनकवि नागार्जुन को रखा जा सकता है लेकिन उनके अलावा पूरी समकालीन कविता में भारतीय समाज की रीढ़ जाति व्यवस्था पर एक धुंध छाया रहता है। संभव है कि किसी कवि ने इक्का–दुक्का कविताएं लिखीं हों इस संदर्भ में लेकिन यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि जाति और जेंडर का सवाल समकालीन कविता की कार्यसूची में अग्रणी स्थान हासिल नहीं कर सका था। यहां इस सरलीकरण से बचा जाना चाहिए कि समकालीन कवियों के पास वह विश्वदृष्टि नहीं थी जिससे वे शोषणकारी व्यवस्था के बहुआयामी स्वरूप को चिह्नित कर पाते। ऐसा नहीं है। यदि हम वस्तुपरक ढंग से देखें तो सामंतवाद, रूढ़िवाद और पूंजीवाद की विकृतियों को जितनी बारीकी से समकालीन कविता ने उपस्थित किया है, वह बाद के विमर्शपरक काव्य आंदोलनों में अनुपस्थित है। दलित विमर्श अथवा स्त्री विमर्श की कविताएं जाति व जेंडर के सवालों को तो उठाती हैं किन्तु वह ऐसा वर्गीय दृष्टि को अस्वीकृत करते हुए करती है। कहना न होगा इसके अपने भयावह परिणाम सामने आए। यहां इस चर्चा का उद्देश्य यह है कि समकालीन कविता में सीमांत अस्मिताओं व जाति, जेंडर और वर्ग के समन्वय की जिस दृष्टि की प्रतीक्षा साठोत्तर के बाद से थी, वह नब्बे के दशक में विमर्शपरक काव्य आंदोलनों के दौर में भले पूरी नहीं होती लेकिन इक्कीसवीं सदी के दो प्रमुख समकालीन कवियों के यहां वह रूपाकार ग्रहण करती है। रमाशंकर यादव 'विद्रोही' तथा दिनेश कुशवाह इस रूप में समकालीन हिन्दी कविता में हाशिए की जमीन पर खड़े कवि जान पड़ते हैं। चूंकि रमाशंकर यादव विद्रोही का समूचा काव्य वाचिक रहा है, हालांकि बाद में उनकी कविताओं का एक व्यवस्थित संकलन 'नई खेती' के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसलिए दिनेश कुशवाह अकेले ऐसे समकालीन कवि हैं जो हाशिए की जमीन पर खड़े होकर वर्चस्ववादी, सामंती मूल्यों से टकराते हुए जीवन के पक्ष में कविता कर रहे हैं। दिनेश कुशवाह की कविताएं इतिहास के अभागों की कविताएं हैं, जिसमें संघर्ष है, परिवर्तनाकांक्षा है, प्रेम, राग व जिजीविषा का विरल रूप है। वरिष्ठ साहित्यकार शिवमूर्ति जी ने दिनेश कुशवाह पर टिपण्णी करते हुए लिखा है कि "रूढ़ियों, अवैज्ञानिक धारणाओं, अंधविश्वासों, अविचारित आस्थाओं, नियोजित पाखंडों, सुनियोजित षड्यंत्रों तथा कपट कुचालों पर कठिन कुठाराघात करने से वे कभी नहीं चूकते।"[1] वास्तव में दिनेश कुशवाह ऐसा इसलिए कर पाते हैं क्योंकि वे भारतीय समाज को निम्नवर्ग की दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं। इसे सबाल्टर्न दृष्टि कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। इसी कारणवश दिनेश कुशवाह प्रभु वर्ग की वैचारिकी के प्रति पूर्णतः आलोचनात्मक रहते हैं। उनकी आलोचनात्मकता को निम्नांकित काव्य पंक्तियों में स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है :

"ईश्वर सबसे बड़ा बहेलिया है
और दीन–हीनों को सताकर
मारने वाले उसके कृपापात्र।

×××

जाल में चिड़िया फंसाने वाले
या जल में मछली मारने वालों को
व्याध कहना
भुखमरों पर ज्यादती होगी
महाराज!"[2]

विश्व के प्रायः सभी क्षेत्रों में किसी न किसी रुप में ईश्वर और धर्म की परिकल्पना रही है। मार्क्स ने धर्म को उत्पीड़ितों की आह माना है। किन्तु भारतीय सामाजिक ताने–बाने में ईश्वर को प्रश्नांकित करना इसलिए परमावश्यक हो जाता है क्योंकि यहां धर्म और ईश्वर की आड़ में जिस प्रकार का अन्यायकारी सामाजिक विधान लागू किया गया है, उसे बगैर ईश्वर की सत्ता पर सवाल उठाए बेबुनियाद साबित नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय देते हुए कवि ने उचित ही रेखांकित किया है कि बड़े–बड़े कुकर्मियों को आश्रय देने वाले धर्म और ईश्वर को छोड़कर अपनी भूख और लाचारी के लिए शिकार करने वाले गरीब लोगों को व्याध कहकर कलंकित करना कितना सही है? कवि दिनेश कुशवाह भारतीय सामाजिक बोध में विन्यस्त पितृसत्तात्मक, वर्चस्ववादी पुरोहितवाद का बहुत बारीकी से पहचान कराते हैं। यह मानो उनका अनिवार्य कवि–कर्तव्य है। अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'इतिहास में अभागे' में वे वर्चस्ववादी–पुरोहितवादी सामाजिकबोध व इतिहासबोध से जिरह करते नजर आते हैं। यह कविता कई मायनों में अपने समय की सबसे अर्थवान कविता कही जा सकती है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :

"वे अभागे कहीं नहीं हैं इतिहास में
जिनके पसीने से जोड़ी गई
भव्य प्राचीरों की एक–एक ईंट
पर अभी भी हैं मिस्र के पिरामिड
चीन की दीवार और ताजमहल"[3]

यह केवल इतिहास से बेदखली का प्रश्न नहीं है। श्रमिक वर्ग का जितना ऐतिहासिक शोषण सामंती अन्यायकारी व्यवस्था ने किया है, यदि आज उन्हें इतिहास में उनकी मेहनत और प्रतिभा का श्रेय दे भी दिया जाए तो क्या क्षति–पूर्ति हो पाएगी? कितने मजदूरों के स्वप्न छीने गए, कितनी मजदूरिनों की कोख में पलने वाले स्वाधीनता के बीज नष्ट किए गए, क्या उन सबकी कभी इतिहास क्षतिपूर्ति कर पायेगा? लेकिन कवि के प्रश्न को एक भिन्न परिप्रेक्ष्य से भी देखना होगा। संसार भर के भिन्न–भिन्न भूगोल में समाज ने किन्हें स्मरणीय और महान बनाया? इसका अपना एक षड्यंत्रकारी इतिहास रहा है। मसलन भारतीय समाज के स्मरणीय तथाकथित महान व्यक्तियों की महानता का मूल्यांकन यदि श्रमिक वर्ग, स्त्री वर्ग की दृष्टि से किया जाए तो उनकी महानता के निश्चित ही चिथड़े उड़ जाएंगे। कृत्रिम ढंग से सत्ता द्वारा गढ़ी गई महानता की मूर्तियां ठोस नहीं होती। भले वह चीन की दीवार जितनी ऊंची हो या ताजमहल जितनी मजबूत लेकिन शोषण की निशानी ही कहलाएंगी ऐसी मूर्तियां! राजा–महाराजाओं के जो इतिहास बताए जाते हैं, उनमें युद्धों में विजयी होने को उनके पुरुषार्थ से जोड़ा गया। सच पूछा जाए तो युद्ध राजाओं ने नहीं बल्कि सैनिकों ने जीते हैं। संभवतः इसी गरज से कवि दिनेश कुशवाह 'इतिहास में अभागे' उन सैनिकों को भी मानते हैं :

"सारे महायुद्धों के आयुध
जिनकी हड्डियों से बने
वे अभागे
कहीं भी नहीं हैं इतिहास में"[4]

पुनः कहना चाहिए कि सवाल केवल नामोल्लेख का नहीं है। सवाल सामाजिक उपेक्षा, हाशियाकरण और दमन का है, जो सामान्य वर्ग के श्रमिकों, सैनिकों, कृषकों, सेविकाओं के साथ किया गया है। इस प्रश्न को छेड़ना का कोई प्रसंग न होता यदि श्रमिक व वंचित वर्ग का ऐतिहासिक हाशियाकरण और दमन अतीत बन चुका होता। विडंबना यह है कि इक्कीसवीं सदी में भी दमन जारी है। स्वरूप बदले हैं लेकिन दमन का पैमाना वही है: जाति, वर्ग और लिंग! इसलिए जब हम उक्त कविता की निम्नांकित पंक्तियां पढ़ते हैं तो बस राजकुमारों की जगह सामंतों के बिगड़ैल बेटे को रख कर देखना पड़ता है। बाकी का समूचा दृश्य एकसमान है। वही वंचित वर्ग की स्त्रियां हैं, वही जातीय अत्याचार है, वही सामंतों के पास जातीय विशेषाधिकार है। द्रष्टव्य है :

"इतिहास के नाम पर मुझे याद आती हैं वे अभागी
घसिआरिन तरुणियां
जिनसे राजकुमारों ने किया प्रेम
और बाद में उनके सिर के बाल
किसी तालाब में सेवार की भांति तैरते मिले।
×××
हमारी बहुएं और बेटियां
जिन्हें अपनी पहली सुहागिन–रात
किसी राजा–सामंत
या मन्दिर के पुजारी के साथ बितानी पड़ी
इस धरती को
उनके लिए नहीं कहते भारत माता"[5]

इस धरती को भारत माता उनके लिए कहते हैं, जिन्होंने सीमांत अस्मिताओं की महिलाओं के स्तन ढंकने पर कर लिया, जिन्होंने बहु–जुठाई जैसी परम्परा चलाई! कुलमिलाकर कहें तो जिन्होंने वर्णव्यवस्था और पितृसत्ता की रक्षा की; उनके लिए इस धरती को भारत माता कहते हैं। सत्ता सम्पोषित इस भारत माता की अवधारणा में गांव की मजदूरिनें कहां हैं? दलित स्त्रियां कहां हैं?

कवि दिनेश कुशवाह हाशिए की जमीन पर खड़े होकर पूरी निर्भीकता से ऐसे प्रश्नों के लिए पाठकों को तर्क और आधार देते हैं। समकालीन कविता में बुद्ध, चार्वाक और कबीर की तार्किकता का प्रतिफलन दिनेश कुशवाह के यहां सहज ही देखा जा सकता है। वे अपनी कविताओं में कबीर का स्मरण करते हैं, बुद्ध का स्मरण करते हैं तो उनके यहां चार्वाक के नास्तिक दर्शन का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यहां बुद्ध, चार्वाक और कबीर का जिक्र करना इसलिए जरूरी जान पड़ता है कि हाशिए के समाज के वैचारिक प्रेरणास्रोत के रूप में बुद्ध, चार्वाक और कबीर ख्यात हैं। चाहे दलित आंदोलन हो अथवा स्त्री आंदोलन इन सबने बुद्ध, चार्वाक और कबीर जैसे तार्किक, प्रगतिशील मूर्तिभंजक विचारकों को स्वीकार करते हुए एक लंबी दूरी तय की है। इस सन्दर्भ में आधुनिक दलित आंदोलन के प्रणेता बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर के तीन गुरुओं में शुमार बुद्ध, कबीर और फुले के महत्व को समझा जा सकता है। हाशिए के समाज के आंदोलनों की वैचारिक जमीन इन्हीं महापुरुषों के द्वारा तैयार की गई है। इसलिए कवि दिनेश कुशवाह का वंचित–दमित समाज के नायकों से संवाद सर्वथा न्यायोचित प्रतीत होता है। जब वे लिखते हैं कि-

"बुद्ध के इतने दिनों बाद
अब यह बहस बेमानी है कि
ईश्वर है या नहीं है

अगर है तो उसके होने से दुनिया की बदहाली पर
तब से लेकर आज तक
कोई फर्क नहीं पड़ा।"[6]

तो यह तथाकथित सनातन ब्राह्मणवादी धर्म के प्रतिरोध में चलाए गए बुद्ध के समतामूलक आंदोलन के परिणामस्वरूप ही है। बुद्ध ने वर्णव्यवस्था के विरुद्ध सर्वप्रथम आंदोलन छेड़ा था। जिसकी जमीन पर खड़े होकर आने वाले समय में निर्गुण संत कवियों तथा फुले–अंबेडकर आदि ने समतामूलक समाज के लिए आंदोलन खड़ा किया। सनातन ब्राह्मणवादी धर्म की यह कबीरी समझ है जो कवि दिनेश कुशवाह से कहलवाती है कि:

"ईश्वर के पीछे मजा मार रही है
झूठों की एक लम्बी जमात
एक सनातन व्यवसाय है
ईश्वर का कारोबार।"[7]

यह युग सत्य है जिसकी अनदेखी करके बेहतर साहित्य, समाज और संस्कृति की रचना नहीं की जा सकती। अवैज्ञानिकता, अतार्किकता और अमानवीय विचारों का निषेध जितना आवश्यक है उतना ही जरूरी युग सत्य की अभिव्यक्ति। उपर्युक्त काव्य पंक्तियां इस दृष्टि से बेहद मूल्यवान हैं।

समाजशास्त्री कांचा इलैय्या ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पोस्ट हिन्दू इंडिया' में पुरोहितवादी हिन्दू धर्म को 'स्पिरिचुअल फासिज्म' की संज्ञा दी है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था पर टिका यह हिन्दू धर्म अपनी प्रकृति में असमानता का पोषक है। असमानता ही इस धर्म का चिरस्थायी मूल्य है। इस तथ्य को समकालीन कविता में देखने के लिए दिनेश कुशवाह की 'हरिजन देखि प्रीति अति बाढ़ी' शीर्षक कविता देखी जा सकती है। इस कविता में कवि ने वर्णवादी समाज के मनोविज्ञान को भलीभांति पकड़ा है। जिस 'राम' नाम से हिंदू समाज की दिनचर्या शुरु होती है। हर हर्ष–विषाद में 'राम' का स्मरण किया जाता है यदि यही शब्द 'राम' किसी व्यक्ति का उपनाम हो तो उसके प्रति वर्णवादी मन के भीतर घृणा उमड़ आती है। जैसे बाबू जगजीवन राम या राम सजीवन राम! कवि ने सोदाहरण इस तथ्य को प्रस्तुत किया है कि हिन्दू समाज का पवित्रतम शब्द भी अपनी अर्थवत्ता खो देता है यदि वह किसी निम्नवर्णीय व्यक्ति से किसी प्रकार जुड़ा हो तो। यदि महर्षि वाल्मीकि के निम्नकुलीन होने का साक्ष्य वर्णवादी समाज को मिल जाए तो फिर वे क्या करेंगे? रामायण को खारिज कर सकेंगे? किंतु शोषक वर्ग के लिए आश्वस्ति की बात यह है कि आदि कवि वाल्मीकि के निम्नकुलीन होने की धारणा भी उन्हीं के वृहत्तर शोषणकारी षडयंत्र का हिस्सा है। बहरहाल उक्त कविता की निम्नांकित पंक्तियां विचारणीय हैं :

"बूढ़े–बच्चे, झूठे–सच्चे, प्रेम से बोलो राम राम
जय श्री राम! हो गया काम।
पर जब सुना किसी का नाम
आगे पीछे लगा है राम
जैसे राम सजीवन राम
या बाबू जगजीवन राम
राम नाम की माला फेंकी
मुंह से निकला छी! छी! राम।
हरिजन देखा, आँखें फूटीं
करुणा, दया, भलाई छूटी।"[8]

यह हमारे समाज की विद्रूप सच्चाई है कि निम्नवर्णीय व्यक्ति चाहे कितने ही बड़े ओहदे पर हो, कितना ही गुणी हो किन्तु वह अपनी जाति से ही पहचाना जाता है। इसके समाजशास्त्रीय कारणों की पड़ताल करें तो यह उस आध्यात्मिक, सामंती और राजनीतिक सत्ता के गठजोड़ के फलस्वरूप संभव होता है जो वर्ण, जाति और लिंग आधारित सभी वर्चस्वों की रक्षा करना चाहता है। चूंकि यह लोकतंत्र में थोड़ा कठिन है तो इसके स्वरुप बदल गए हैं। इसे एक उदाहरण से समझना समीचीन होगा। सर्वविदित है कि खेती–किसानी, खेतिहर मजदूरी से निम्नवर्णीय लोग ही अधिकांश जुड़े हुए हैं। इस तथ्य को जानने के बाद अब खेती–किसानी, खेतिहर मजदूरी की संस्थानिक/आपराधिक उपेक्षा पर नजर डालें तो सारा मंजर साफ हो जाता है। बीते दो–तीन दशकों में तीन लाख से अधिक किसानों ने आत्महत्याएं की हैं लेकिन सरकार और व्यवस्था के कान पर जुं तक नहीं रेंगता तो इसलिए क्योंकि इसका एक नैतिक आधार उनका धर्म, उनका धर्मशास्त्र व सामाजिक मूल्य देता है। यह ठीक है कि लोकतंत्र की अपनी भ्रष्टाचार, जातीय आधारित चुनाव जैसी कमजोरियां हैं लेकिन उसकी जड़ में देखें तो वर्णवाद का जहर ही देखने को मिलेगा। दिनेश कुशवाह इस विडंबना को अपने एक शेर में यूं अभिव्यक्त करते हैं :

"झूलते हैं लोग अब खुद, फांसियों पर खेत में,
देश की सरकार का, ये ताना–बाना हो गया।"[9]

वे यह भी स्पष्टतः कहते हैं कि "एक बात जान लो
आँच साँच पर ही आती है
झूठ का कुछ नहीं बिगड़ता
और जाति है सहस्त्राब्दियों का सबसे बड़ा झूठ
जो सच से बड़ा हो गया है।"[10]

यदि भारतीय लोकतंत्र को वर्णवादी–जातिवादी ढांचे में नहीं ढाला गया है तो सरकार जाति को राष्ट्रीय कलंक क्यों नहीं घोषित करती? जब भी जाति आधारित अत्याचारों का मुद्दा जोर पकड़ता है पूरा सरकारी तंत्र, मीडिया और बौद्धिक वर्ग उसकी लीपापोती करने में जुट जाता है। जहां एक रोग को इतने कायदे से पाला जा रहा हो, वहां असमानता के कैंसर से कैसे बचा जा सकता है? क्या वह समाज आत्मघाती नहीं है? ऐसे प्रश्नों में छिपी वृहत समाजिक चिंता को कवि दिनेश कुशवाह ने बहुत तीक्ष्णता से दर्ज किया है :

"आख़िर सरकार
क्यों नहीं घोषित करती जाति को 'राष्ट्रीय शर्म'
और अंतर्जातीय प्रेम विवाह को 'राष्ट्र–सम्मान'।
यह पंडित नेहरू का लोकतंत्र है
और पंडित राहुल गांधी का सुराज
जहां देखो तो कम मजे में नहीं हैं मोदी
मुलायम, लालू परसाद या रामविलास
समझे कि नहीं समझे कुछ"[11]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दिनेश कुशवाह हाशिए के समाज की वैचारिकी, उनके वर्गहित के अपने कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में बुद्ध, राहुल सांकृत्यायन, भगत सिंह, चारु मजूमदार, अंबेडकर और मोहनदास करमचंद गांधी के समतामूलक समाज के स्वप्न को अंगीकार किया है। तमाम निराशाओं, विद्रूपताओं और संघर्ष के बीच बतौर जनपक्षधर कवि वे मानते हैं कि आज भी कबीर की मानिंद हाथ में सत्य की लुकाठी लिए घर से निकल पड़ने का विकल्प खुला हुआ है। इस आशय से 'आज भी खुला है, अपना घर फूंकने का

विकल्प' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं :

"न जाने कब इस देश में दुबारा
होंगे गौतम बुद्ध, राहुल सांकृत्यायन, भगत सिंह,
चारु मजूमदार, अंबेडकर और मोहनदास।
कुहासा घना है आज भी
चक्की में पिस रहे लोग छटपटाते हैं
पर अपनी लुकाठी लेकर चलने
और अपना घर फूंकने का विकल्प
आज भी खुला है।"[12]

कवि का यह साहस ही उन्हें उत्तरोत्तर प्रासंगिक बनाए रखता है।

सन्दर्भ सूची :

1. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– फ्लैप पृष्ठ
2. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 14
3. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 11
4. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 12
5. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 12–13
6. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 27
7. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 29
8. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 42
9. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 47
10. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 61
11. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 60
12. कुशवाह, दिनेश, इतिहास में अभागे, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, संस्करण–2017, पृष्ठ– 62

•